राष्ट्रीय पात्रता सह प्रवेश परीक्षा - पूर्व आयुर्वेद

आयुर्वेद पाठ्यक्रम (हिन्दी)

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

विषय सूची

राष्ट्रीय पात्रता सह प्रवेश परीक्षा - पूर्व आयुर्वेद पाठ्यक्रम - आयुर्वेद

Section – I

1. आयुर्वेदस्य ऐतिहासिकदृष्टिः

1.1	आयुर्वेदस्य परिभाषा	04
1.2	उद्देश्यम् – स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनं च	05
1.3	प्रमुखा आचार्याः – चरकः, सुश्रुतः, वाग्भटः (सामान्यपरिचयः)	05
1.4	आयुर्वेदग्रन्थपरम्परा (सामान्यपरिचयः)	06
1.5	प्रमुखग्रन्थाः, निघण्टवः तेषां कर्तारः च	09

Section – II

2. मूलभूतसिद्धान्ताः

2.1	चतुर्विंशतितत्त्वानि	11
2.2	पञ्चमहाभूतानि, षड्रसाः	13
2.3	त्रिदोषसिद्धान्तः (कार्यात्मकदृष्ट्या)	19
2.4	सप्तधातवः, मलाः, अग्निः (प्रारम्भिकपरिचयः)	24

Study Material, Uploaded on 11.08.2026

Section – III

3. स्वास्थ्यं जीवनशैली रोगः उपचारश्च (प्रारम्भिकपरिचयः)

3.1	स्वास्थ्यस्य परिभाषा	27
3.2	दिनचर्या, ऋतुचर्या च	27
3.3	आहारस्य मूलसिद्धान्ताः	29

Section – IV

4. रोगः उपचारश्च (प्रारम्भिकपरिचयः)

4.1	रोगस्य सङ्कल्पना (दोषवैषम्यरूपेण)	32
4.2	निवारणात्मकः चिकित्सात्मकश्च उपागमः	32
4.3	औषधद्रव्याणां सामान्यपरिचयः	35
4.4	चिकित्सा-विधयः (पञ्चकर्मादीनां सामान्यज्ञानम्)	35

Section – V

5. आयुर्वेदस्य संरचना संस्थानानि च

5.1	अष्टाङ्गायुर्वेदः (संकल्पनात्मकपरिचयः)	40
5.2	समग्रस्वास्थ्यप्रणालीरूपेण आयुर्वेदः	40
5.3	प्रसिद्धानाम् आयुर्वेदसंस्थानां नामानि	42

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

Section – I

1. आयुर्वेदस्य ऐतिहासिकदृष्टिः

1.1 आयुर्वेदस्य परिभाषा

व्याख्या और उद्देश

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। (चरक संहिता)

आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति—

हित आयु, अहित आयु, सुख आयु और दुःख आयु तथा उस आयु के लिये जो हितकर = पथ्य (द्रव्य, गुण, कर्म) अथवा अहितकर = अपथ्य, तथा आयु का मान याने प्रमाण और उसके लक्षणों का वर्णन जिसमें होता है, उसको 'आयुर्वेद' कहा गया है।

हित -अहित आयु— सत्त्व-गुण-प्रधान तथा दैवी संपदा युक्त प्राणी की आयु ये हित आयु कही जाती है। इसके सर्वथा विपरीत अहित आयु को समझें।

सुख - दुख आयु— आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त का विधिवत् सेवन करने के प्रतिफलस्वरूप प्राप्त सुखमय जीवन-काल ही सुख आयु है। इसके विपरीत दुःख आयु है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

अन आयु का हिताहितत्व आयुर्वेद में मुख्य रूप से हित-अहित शब्द पथ्य-अपथ्य के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

आयु का मान—किसी भी व्यक्ति का आयु का प्रमाण कितना है ये भी आयुर्वेद मे वर्णन किया गया है। आयु के उक्त भेदोपभेदों का जिसमें विस्तृत विवेचन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

आयु की व्याख्या -
शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुच्यते ।।

आयु के लक्षण—
शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व (मन) और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं।

आयु के पर्याय— धारि, जीवित, नित्यग अनुबन्ध ये आयु के पर्यायवाचक शब्द हैं।

जब तक शरीर, इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय), मन और आत्मा का संयोग रहता है, तब तक उस प्राणी की आयु रहती है।

1.2 उद्देश्यम् – स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनं च

आयुर्वेद का उद्देश:

प्रयोजनचास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ॥ (चरक संहिता)

आयुर्वेद का प्रयोजन है - स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगयुक्त पुरुष के विकारों की शान्ति करना ।

जो स्वस्थ है, किसी भी शारीर या मानसिक विकार उत्पन्न नही हुये है उनमे उस स्वास्थ्य का रक्षण करना और कोई भी विकार उत्पन्न ना हो इसलिये आहारविहार की योजना करना ये प्रथम उद्देश्य है ।

और अगर किसी कारणवश विकार उत्पन्न हो गया तो फस विकार की यथायथ संपूर्णशः चिकित्सा करना ये दूसरा उद्देश्य है ।

1.3 प्रमुखा आचार्याः – चरकः, सुश्रुतः, वाग्भटः (सामान्यपरिचयः)

महर्षि चरक

- मूलतः कश्मीर के निवासी थे
- कनिष्क राजा के राजवैद्य।
- अग्निवेश तंत्र का प्रतिसंस्करण किया।
- भावप्रकाश ने चरक महर्षि को शेष का अवतार बताया है।
- यायावर ऋषि थे, इनका आश्रम उत्तराखंड में कोटद्वार के पास चरेख डांड़ा नामक जगह है।
- सूत्र स्वरूप अग्निवेश तंत्र को इन्होंने भाष्य रूप में संस्कार किया।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

आचार्य सुश्रुत

- काशी के निवासी
- काशीराज दिवोदास के पौत्र और महर्षि विश्वामित्र के पुत्र।
- काशीराज दिवोदास जी के ८ शिष्यों में प्रमुख शिष्य
- काशी में चिकित्सालय और शव विच्छेदन कक्ष था।
- शल्यतंत्र प्रधान सुश्रुत संहिता के तंत्रकर्ता।

आचार्य वाग्भट

- मूलतः सिन्धुप्रदेश के निवासी थे
- पिता – सिंहगुप्त
- शिष्य – इंदु, जेज्जट
- अष्टांग संग्रह और अष्टांग हृदय इन ग्रंथों की रचना की ।
- अष्टांग संग्रह – 150 अध्याय, गद्य-पद्य स्वरूपात्मक
- अष्टांग हृदय – 120 अध्याय, पद्य स्वरूपात्मक

1.4 आयुर्वेदग्रन्थ परम्परा

आयुर्वेद साहित्य का वर्गीकरण -

प्राचीन आयुर्वेद साहित्य को मुख्यतः निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—
1. वैदिक साहित्य
2. संहिता
3. टीका एवं व्याख्या साहित्य
4. निघण्टु साहित्य
5. रसशास्त्रीय साहित्य
6. वैद्यक काव्य

इन सभी वर्गों ने आयुर्वेद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

1) **वैदिक साहित्य में आयुर्वेद -**

आयुर्वेद का प्रारंभिक स्वरूप वेदों में प्राप्त होता है। वेद भारतीय ज्ञान परंपरा के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। चारों वेदों में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी अनेक संदर्भ उपलब्ध हैं।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

ऋग्वेद - औषधियों, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा तथा रोगों के निवारण से संबंधित अनेक मंत्र मिलते हैं। इसमें वनस्पतियों की महत्ता का वर्णन किया गया है। अश्विनीकुमार, ब्रह्मा, इंद्र जैसे कई आयुर्वेद आचार्यो के नाम ऋग्वेद मे प्राप्त होते है।

यजुर्वेद - यज्ञों के माध्यम से स्वास्थ्य संरक्षण तथा पर्यावरण शुद्धि का उल्लेख मिलता है। इसमें शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर बल दिया गया है। बलास, अर्श, हृद्रोग, कुष्ठ आदि व्याधियों का उल्लेख है।

सामवेद - संगीत एवं ध्वनि के माध्यम से मानसिक शांति और स्वास्थ्य लाभ की अवधारणा दिखाई देती है।

अथर्ववेद - इसको आयुर्वेद का मूल स्रोत माना जाता है। इसमें अनेक रोगों, औषधियों, जड़ी-बूटियों तथा उपचार पद्धतियों का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में ज्वर, कुष्ठ, कृमि, विष तथा अन्य रोगों के उपचार का उल्लेख है। आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोषवाद का भी उल्लेख अथर्ववेद मे मिलता है।
अथर्ववेद मे चार प्रकार की चिकित्सा का उल्लेख है - आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यजा। इसी का प्रतिबिंब आगे के आयुर्वेद साहित्य मे हमे प्राप्त होता है।

2) **संहिता ग्रंथ -**

परंपरा से वेद मुखोद्गत थे और मौखिकी पद्धती से वो सिखाये जाते थे। जब वो लिखित स्वरुप मे आये तो उन्हे वेद संहिता कहा जाने लगा।

संहिता - सम् + हृ धातु से बना पद है। उसका अर्थ एकत्रित करना ऐसा है। एक विषय के सारे सूत्र एकत्र करके शास्त्रोक्त पद्धती से लिखने को संहिता ऐसा कहा जाता है।

प्राचीन काल मे उन्हे 'तन्त्र' कहा जाता था। इंद्र से जो आयुर्वेद का ज्ञान भरद्वाजादि महर्षियों ने लिया तो उस ज्ञान को स्थिर रखने के लिये उन्होंने अपने अपने ग्रंथ निर्मित किये।

स्थित्यर्थमायुर्वेदस्य तेऽथ तन्त्राणि चक्रिरे। (अष्टांग संग्रह सूत्रस्थान १/५)

फिर उन्होंने अपने अपने शिष्यों से आयुर्वेद दिया और उन शिष्यों की ग्रंथरचना करवाई। ऐसे फिर अग्निवेश तंत्र, सुश्रुत तंत्र, काश्यप तंत्र निर्मित हुए। उनको ही बाद मे संहिता का स्वरूप प्राप्त हुआ।

प्राचीन संहिताओं मे चरक, सुश्रुत, भेल तथा काश्यप संहिता संप्रति उपलब्ध है। परंतु आधुनिक काल में प्रमुख संहिताग्रंथो के बृहत् त्रयी और लघु त्रयी उपभेद है।

बृहत् त्रयी

आयुर्वेद साहित्य में बृहत् त्रयी को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसमें तीन प्रमुख ग्रंथ सम्मिलित हैं—

1. चरक संहिता
2. सुश्रुत संहिता
3. अष्टांग हृदय (तथा अष्टांग संग्रह)

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

इन ग्रंथों को आयुर्वेद का आधार स्तंभ माना जाता है।

चरक संहिता

परिचय - चरक संहिता आयुर्वेद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके मूल रचयिता आचार्य अग्निवेश माने जाते हैं। बाद में आचार्य चरक ने इसका पुनर्संस्कार किया तथा दृढबल ने इसे पूर्ण किया।

विषयवस्तु - चरक संहिता में कायचिकित्सा प्रधान आयुर्वेद का वर्णन है।

सुश्रुत संहिता

परिचय - सुश्रुत संहिता के रचयिता आचार्य सुश्रुत हैं। इन्हें शल्य चिकित्सा का जनक माना जाता है।

विषयवस्तु - सुश्रुत संहिता में शल्यतंत्रप्रधान आयुर्वेद का वर्णन मिलता है।

अष्टांग संग्रह -

अष्टांग संग्रह के रचयिता आचार्य वाग्भट हैं। यह ग्रंथ गद्य एवं पद्य दोनों रूपों में रचित है। इसमें आयुर्वेद के सभी प्रमुख सिद्धांतों का समावेश किया गया है।

इस ग्रंथ में रोगों के निदान, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य संरक्षण के सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

अष्टांग हृदय -

अष्टांग हृदय भी आचार्य वाग्भट की रचना है। यह आयुर्वेद का अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है।

विशेषताएँ

1. सरल एवं सुबोध भाषा।
2. आयुर्वेद के मूल सिद्धांतों का संक्षिप्त वर्णन।
3. चिकित्सकों एवं विद्यार्थियों के लिए उपयोगी।
4. दिनचर्या एवं ऋतुचर्या का विस्तृत विवरण।

अष्टांग हृदय आज भी आयुर्वेद शिक्षा में व्यापक रूप से पढ़ाया जाता है।

लघु त्रयी -

संहिता काल के पश्चात कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई जिन्हें लघु त्रयी कहा जाता है। माधवनिदान, भावप्रकाश और शारंगधर ये तीन लघु त्रयी है ।

माधव निदान -
आचार्य माधवकृत यह ग्रंथ रोग निदान का प्रमुख ग्रंथ है। इसमें विभिन्न रोगों के लक्षण एवं निदान का विस्तृत वर्णन है।

शारंगधर संहिता -
इस ग्रंथ में भैषज्य कल्पना, औषध निर्माण, मात्रा विज्ञान तथा पंचकर्म संबंधी जानकारी मिलती है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

भावप्रकाश -
आचार्य भावमिश्र द्वारा रचित यह ग्रंथ द्रव्यगुण, रोग विज्ञान तथा चिकित्सा का महत्वपूर्ण स्रोत है।

अन्य महत्व की संहिता

काश्यप संहिता -
महर्षि काश्यप के लिखित तंत्र पर महर्षि वृद्धजीवक ने संस्कार किया और काश्यप संहिता निर्मित हुई। स्त्री विकार, प्रसूति विज्ञान, बालक परिचर्या और बालरोग इन विषयों पर यह संहिता समर्पित है।

उसमे प्राचीन काल में होनेवाली बालको की परिचर्या चिकित्सा, स्त्रियों के विकार और उनकी चिकित्सा का विस्तार से वर्णन है। कई शतको तक यह संहिता लुप्त रही। पिछले शतक में नेपाल के केशर पुस्तकालय मे नेपाल से राजवैद्य हेमराज शर्मा जी को यह संहिता खण्डित स्वरूप में प्राप्त हुई।

भेल संहिता -
महर्षि आत्रेय जी के शिष्य आचार्य भेल ने यह संहिता रची थी जो आज खण्डित स्वरूप में प्राप्त होती है।
इसमें चिकित्सा, नेत्रविज्ञान का अमौलिक वर्णन प्राप्त होता है।
आचार्य भेल से सिंध प्रदेश के राजवैद्य थे।
हारीत संहिता -
ये भी महर्षि आत्रेय जी के शिष्य थे। उन्होंने चिकित्सा विज्ञान पर ये संहिता लिखी थी जो आज खण्डित है।

मध्यकालीन साहित्य (संग्रह ग्रंथ) -
वाग्भट के बाद मध्यकाल मे संग्रह स्वरूप संहिताओं का निर्माण होना प्रारंभ हुआ।

3) टीका और व्याख्या साहित्य -

प्राचीन काल में जो संस्कृत भाषा में ग्रंथसंपदा थी उसे संक्षिप्त स्वरूप सूत्ररूप में हुई थी।
कालतः उनपर विवेचन करना आवश्यक हो गया ।इसलिये मूल ग्रंथों पर संस्कृत भाषा में ही विस्तारसे विवेचन स्वरूपात्मक टीका लिखने का कार्य शुरू हुआ।
सर्वप्रथम उपलब्ध टीका ४ शताब्दी के भट्टार हरिश्चंद्र की है।

अभीतक सुश्रुत – १९, चरक – ४०, अष्टांगहृदय - ४४ ,अष्टांग संग्रह - ०१,शार्ङ्गधर -०५, माधव -११ भावप्रकाश - ०२ ऐसी टीकाये ज्ञात है।

4) निघण्टु साहित्य -

आयुर्वेद मे निघण्टु ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें औषधीय द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

प्रमुख निघण्टु— धन्वंतरि निघण्टु, राज निघण्टु , मदनपाल निघण्टु, भावप्रकाश निघण्टु, कैय्यदेव निघण्टु, अष्टांग निघण्टु, शोढल निघण्टु

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

इन ग्रंथों में औषधियों के गुण, कर्म, रस, वीर्य तथा उपयोग का वर्णन मिलता है।

5) रसशास्त्रीय साहित्य -

मध्यकाल में रसशास्त्र का विकास हुआ। इसमें पारदसुवर्णादि धातुओं, खनिजों एवं रसायनों के औषधीय उपयोग का वर्णन मिलता है।

प्रमुख ग्रंथ— रसार्णव, रस रत्न समुच्चय, रसेंद्र चूड़ामणि, आयुर्वेद प्रकाश, आनंदकंद, रसामृत, रसप्रकाशसुधाकर इत्यादि। और भी प्रचूर संख्या मे ग्रंथ निर्माण हुये।

रसशास्त्र ने आयुर्वेद की औषध निर्माण प्रणाली को समृद्ध बनाया।

6) वैद्यक काव्य

आयुर्वेद के ग्रंथ अधिकांश पद्यबद्ध हैं। उनमें विविध छन्द, अलंकार, वृत्तों का उपयोग किया गया है। रचयिता के कवित्व का प्रतिबिम्ब उनमें मिलता है। आगे चलकर इस प्रवृत्ति को एक विशेष महत्व प्राप्त हुआ और वैद्यों को कविराज कहा जाने लगा।
कुछ प्रमुख कृतियाँ —
वैद्यजीवन-लोलिम्बराज

वैद्यावतंस-लोलिम्बराज
वैद्य विलास-कवि राघव

1.5 प्रमुख ग्रन्थाः निघण्टवः तेषां कर्तारः । -

आयुर्वेद शास्त्र के प्रमुख ग्रंथ और उनके रचयिता –

चरक संहिता	महर्षि चरक
सुश्रुत संहिता	महर्षि सुश्रुत
अष्टांग ह्रदय	वाग्भट
अष्टांग संग्रह	वाग्भट
काश्यप संहिता	काश्यप
भेल संहिता	भेल
हारीत संहिता	हारीत
माधवनिदानम्	माधवकर
भावप्रकाश	भावमिश्र
शारंगधर संहिता	शारंगधर
योगरत्नाकर	अज्ञात
कल्याणकारकम्	उग्रादित्याचार्य
सिद्धसार संहिता	रविगुप्त
योगतरंगिणी	त्रिमल्ल भट्ट
निघण्टरत्नाकर	विष्णु गोडबोले
वृन्दमाधव	वृन्द
चिकित्साकलिका	तीसटाचार्य
चिकित्सासंग्रह	चक्रपाणिदत्त
चिकित्सासारसंग्रह	वंगसेन
भैषज्यरत्नावली	गोविन्ददास
गदनिग्रह	सोढल

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

टीका –

सुश्रुत संहिता	
निबन्धसंग्रह	डल्हण
भानुमती	चक्रपाणिदत्त
न्यायचन्द्रिका पञ्जिका	गयदास
सुश्रुतार्थसन्दीपन	हाराणचन्द्र चक्रवर्ती
चरक संहिता	
आयुर्वेद दीपिका	चक्रपाणि दत्त

जल्पकल्पतरु	गंगाधर राय
निरन्तरपदव्याख्या	जेज्जट
चरकोपस्कार	योगिन्द्रनाथ सेन
चरकप्रदीपिका	ज्योतिषचंद्र सरस्वती
अष्टांग हृदय	
सर्वांगसुन्दरा	अरुणदत्त
आयुर्वेद रसायन	हेमाद्रि
पदार्थचन्द्रिका	चंद्रनन्दन
हृदयबोधिका	श्रीदास पण्डित
अष्टांग संग्रह	
शशिलेखा	इन्दु

निघण्टु साहित्य -

आयुर्वेद मे निघण्टु ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें औषधीय द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

इन ग्रंथों में औषधियों के गुण, कर्म, रस, वीर्य तथा उपयोग का वर्णन मिलता है।

प्रमुख निघण्टु—

धन्वंतरि निघण्टु	अज्ञात
राज निघण्टु	नरहरि पण्डित
मदनपाल निघण्टु	मदनपाल
भावप्रकाश निघण्टु	भावमिश्र
कैय्यदेव निघण्टु	कैय्यदेव
अष्टांग निघण्टु	वाहट
शोढल निघण्टु	शोढल

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

Section – II

2. मूलभूतसिद्धान्ताः

2.1 चतुर्विंशति तत्त्व (24 तत्त्व)

चतुर्विंशति का अर्थ है 24, और तत्त्व का अर्थ है मूल सिद्धांत या आधारभूत घटक।

सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जगत और मानव शरीर की रचना 24 तत्त्वों से होती है। आयुर्वेद (चरक संहिता आदि) ने यह ढाँचा सांख्य दर्शन से ही अपनाया है।

1. प्रकृति (1)

यह सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण है। इसे प्रकृति या मूल शक्ति कहते हैं। इसी से बाकी सभी तत्त्व क्रमशः उत्पन्न होते हैं।

2. महत् / बुद्धि (1)

प्रकृति से सबसे पहले महत् उत्पन्न होता है, जिसे बुद्धि भी कहते हैं। यह सही-गलत का निर्णय लेने की शक्ति है।

3. अहंकार (1)

बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार का अर्थ है "मैं" और "मेरा" का भाव।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

4. पाँच तन्मात्राएँ (5)

अहंकार से उत्पन्न पाँच सूक्ष्म गुण, जिनसे आगे पाँच महाभूत बनते हैं:

तन्मात्रा	अर्थ	इससे उत्पन्न महाभूत
शब्द	ध्वनि	आकाश
स्पर्श	छूने का अनुभव	वायु
रूप	आकार और रंग	अग्नि
रस	स्वाद	जल
गन्ध	सुगंध/दुर्गंध	पृथ्वी

5. पाँच महाभूत (5)

संसार और शरीर के पाँच स्थूल मूल तत्त्व :

- आकाश
- वायु

- अग्नि
- जल
- पृथ्वी

6. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (5)

ज्ञान प्राप्त करने वाले अंग:

- कान (श्रवण)
- त्वचा
- आँख
- जीभ
- नाक

7. पाँच कर्मेन्द्रियाँ (5)

कार्य करने वाले अंग:

- वाणी (वाक्)
- हाथ (पाणि)
- पैर (पाद)
- गुदा (पायु)
- उपस्थ (प्रजनन अंग)

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

8. मन (1)

मन सभी इन्द्रियों से प्राप्त जानकारी को समझता है और सोचने, याद रखने तथा निर्णय लेने में सहायता करता है। यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के बीच समन्वयक की भूमिका निभाता है।

संख्या-सारणी

तत्त्व	संख्या
प्रकृति	1
महत् (बुद्धि)	1
अहंकार	1
पाँच तन्मात्राएँ	5
पाँच महाभूत	5

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ	5
पाँच कर्मेन्द्रियाँ	5
मन	1
कुल	**24**

2.2 पञ्चमहाभूत सिद्धान्त, षड्सा:

पञ्चमहाभूत आयुर्वेद का एक मूलभूत सिद्धान्त है। इसके अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर पाँच महाभूतों से निर्मित है। ये पाँच महाभूत सभी द्रव्यों के आधार माने गए हैं — शरीर, इन्द्रिय, मन, धातु, दोष, मल एवं औषध द्रव्य — सबका निर्माण इन्हीं पञ्च महाभूतों के संयोग से होता है।

पञ्चमहाभूत — नाम, गुण एवं कार्य

महाभूत	शरीर में कार्य	तन्मात्र / ज्ञानेन्द्रिय
पृथ्वी (Prithvi)	अस्थि, दाँत, मांस, त्वचा, नख, मूर्ति (शरीराकृति)	घ्राण (गंध)
जल (Jala)	रक्त, रस, लार मूत्र, क्लेद (आर्द्रता)	रसना (स्वाद/रस)
अग्नि (Agni)	पाचन, चयापचय, शरीर की ऊष्मा, दृष्टि	चक्षु (रूप)
वायु (Vayu)	श्वास-प्रश्वास, स्नायु व तंत्रिका क्रियाएँ, समस्त गतियाँ	त्वक् (स्पर्श)
आकाश (Akasha)	शरीर की समस्त गुहाएँ व रिक्त स्थान (मुख, नासिका, कर्ण, कोशान्तराल)	श्रोत्र (शब्द)

Study Material Uploaded on 11.08.2026

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि, तान्युपचयसङ्घातगौरवस्थैर्यकराणि;
द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लादकराणि;
उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि, तानि दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णकराणि;
लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकराणि;
मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि॥११॥

श्लोकानुसार गुण-कार्य विवरण (अन्वय)

द्रव्य-भेद	गुणबहुलत्व (प्रधान गुण)	कारकत्व (उत्पन्न कार्य)
पार्थिव	गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल, गन्ध	उपचय, सङ्घात, गौरव, स्थैर्य
आप्य	द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, रस	उपक्लेद, स्नेह, बन्ध, विष्यन्द, मार्दव, प्रह्लाद

द्रव्य-भेद	गुणबहुलत्व (प्रधान गुण)	कारकत्व (उत्पन्न कार्य)
आग्नेय	उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष, विशद, रूप	दाह, पाक, प्रभा-प्रकाश, वर्ण
वायव्य	लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श	रौक्ष्य, ग्लानि, विचार (गति), वैशद्य, लाघव
आकाशात्मक	मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण, शब्द	मार्दव, सौषिर्य, लाघव

त्रिदोषों का निर्माण

त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) की उत्पत्ति भी पञ्चमहाभूतों के संयोजन से होती है :

दोष	महाभूत संयोजन
वात (Vata)	आकाश + वायु
पित्त (Pitta)	अग्नि + जल
कफ (Kapha)	पृथ्वी + जल

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

पञ्चमहाभूत सिद्धान्त का महत्व

- शरीर, इन्द्रियों और मन की संरचना एवं कार्य का आधार पञ्चमहाभूत ही हैं।
- सभी सप्त धातु, त्रिदोष, त्रिमल तथा औषध द्रव्यों का निर्माण इन्हीं पाँच महाभूतों से होता है।
- आयुर्वेद में रोग की उत्पत्ति (सम्प्राप्ति) एवं चिकित्सा (द्रव्य-गुण के आधार पर) का आधार भी पञ्चमहाभूत सिद्धान्त ही है।
- पंचीकरण सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में पाँचों महाभूत किसी न किसी अनुपात में विद्यमान रहते हैं; प्रधान महाभूत के आधार पर ही द्रव्य का वर्गीकरण होता है।

शरीर पांचभौतिक है , सृष्टी पांचभौतिक है, व्याधि के हेतु पांचभौतिक है और चिकित्सा के द्रव्य भी पांचभौतिक है
इसलिये पांचभौतिक सिद्धांत ये अत्यंत महत्व का सिद्धांत है

षड्रस

रस शब्द की व्याख्या – "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।"
रसना (जीभ) द्वारा जिसका स्वाद लिया जाय उसको रस कहते हैं।

रस भेद—

i. स्वाद (मधुर)
ii. अम्ल (खट्टा)

iii. लवण (नमकीन)
iv. कटु (कड़ुआ मिर्च आदि)
v. तिक्त (तीता नीम आदि)
vi. कषाय (कसैला आँवला आदि)

ये छः रसों का संग्रह माना गया है।

रसों के कार्य

- मधुर अम्ल लवण रस वात दोष को जीतता है ।
- कषाय मधुर तिक्त रस पित्त दोष जीतता है ।
- कषाय कटू तिक्त रस कफ दोष को जीतता है ।

	शमन	प्रकोप
मधुर (जल पृथ्वी)	वात पित्त.	कफ
अम्ल (पृथ्वी अग्नि)	वात	पित्त कफ
लवण(जल अग्नि)	वात	पित्त कफ
कटू(वायु अग्नि)	कफ.	पित्त वात
तिक्त (वायु आकाश)	पित्त कफ.	वात
कषाय (वायु पृथ्वी)	पित्त कफ	वात

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

पञ्चमहाभूतों से रसों का उत्पत्ति-क्रम—

उन छः रसों में से सोम गुण की प्रधानता से मधुर रस, पृथिवी और अग्नितत्त्व की अधिकता से अम्ल (खट्टा) रस, जल तथा अग्नि तत्त्व की अधिकता से लवण रस, वायु और अग्नि की अधिकता से कटुरस, वायु और आकाशतत्त्व की अधिकता से तिक्तरस, वायु और पृथिवी तत्त्व की अधिकता से कषाय रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन रसों के छः भेद कहे गये हैं। महाभूतों की न्यूनता (कमी) और अधिकता के भेद से जिस प्रकार प्राणियों के गौरवर्ण, कृष्णवर्ण, आकृति विशेष की उत्पत्ति होती है, काल (सम्पूर्ण वर्ष) छः ऋतुओं में विभाजित हो जाता है। ऋतुओं के तर-तम भेद से महाभूतों में भी न्यूनता (कमी) और अतिरिक्त (अधिकता) का होना देखा जाता है।

मधुर रस के गुण-कर्म—

उन छः रसों में मधुर रस शरीर को सात्म्य होने से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, आयुकारक, ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन अर्थात् छः इन्द्रियों को प्रसन्न (तृप्त) करने वाला, बल और वर्ण की वृद्धि करने वाला, पित्तशामक, विषनाशक, वातनाशक, तृष्णा तथा दाह को कम करने वाला, त्वचा के लिये हितकर, केशों के लिये हितकर, कण्ठ (गले) के विकारों को दूर करने वाला, बलवर्धन, प्रीणन जीवन (जीवनीय शक्ति को देने वाला), तर्पण (तृप्तिकारक), बृंहण (स्थूलताकारक), स्थिरता को देने वाला, क्षीणतानाशक, क्षतपूरक, संधानकर (अस्थिभग्न को जोड़ने वाला), नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ तथा जिह्वा को आनन्दित करने वाला अर्थात् प्रिय, दाह, मूर्च्छा का शमन करने वाला, षट्पद (भ्रमर, शहद की मक्खी तथा साधारण मक्खी, इन सभी के छः पैर होते हैं।) पिपीलिका (चींटी) आदि का अत्यन्त प्रिय, स्निग्ध गुण प्रधान, शीत एवं गुरु होता है।

मधुर रस के अधिक सेवन से दोष—

इस प्रकार के गुणों वाला भी वह मधुर रस अत्यधिक सेवन करने पर स्थूलता, मृदुता (मांसपेशियों में ढीलापन), आलस्य (शक्ति रहने पर भी कार्य करने का उत्साह न होना), अधिक नींद का आना, शरीर में भारीपन, भोजन के प्रति अरुचि, अग्नि का मन्द हो जाना, मुख तथा गले के मांस की अधिक वृद्धि, श्वास, कास, प्रतिश्याय (जुकाम), अलसक, शीतज्वर (जाड़ा देकर ज्वर आना), अनाह, मुख का मीठा बना रहना, वमथु (वमन), संज्ञनाश (बेहोशी), स्वर का भद्दा होना, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गले की सूजन, बस्ति, धमनी तथा गला के भीतर लिपा हुआ-सा प्रतीत होना, नेत्र रोग, अभिष्यन्द आदि कफज रोग, इत्यादि कफज विकारों को पैदा करता है।

अम्ल रस के गुण कर्म :

अम्ल रस के गुण-कर्म— अम्ल (खट्टा) रस भोजन (खाने) के प्रति रुचि उत्पन्न करता है, अग्नि (पाचकाग्नि) को प्रज्वलित करता है, देह (शरीर) को मोटा करता है, मन को प्रबुद्ध करता है, इन्द्रियों को दृढ़ बनाता है, बल को बढ़ाता है, वायु को अनुलोम (अपने-अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त) करता है, हृदय को तृप्त करता है, मुख को लारयुक्त कर देता है अर्थात् अम्ल रस को देखते ही मुख से लार निकलने लगती है (यह भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होने का लक्षण है)। भुक्त (खाये हुए भोजन) को आमाशय की ओर खींचकर ले जाता है, आहार-नलिका को क्लिन्न (गीला) करता है, भोजन को जीर्ण (पचाता) करता है और मन आदि को प्रसन्न (तृप्त) करता है। अम्ल रस लघु, उष्ण और स्निग्ध होता है|

अम्लरस के अधिक सेवन से दोष—

वह अम्लरस इस प्रकार के गुणों वाला होने पर भी यदि अकेला (अन्य रसों को छोड़कर केवल इसी) का अत्यधिक सेवन किया जाता है तो दन्तहर्ष (दाँतों को खट्टा) कर देता है, प्यास को पैदा करता है, आँखें बन्द हो जाती हैं, लोमों को कंपा देता है (रोमांच हो जाता है), कफ को ढीला कर देता है, पित्त को बढ़ाता है, रक्त को दूषित करता है, मांसपेशियों में दाह (जलन) पैदा करता है, शरीर की सन्धियों को ढीला कर देता है, क्षीण, क्षत, दुर्बलों को शोषयुक्त कर देता है अर्थात् यदि क्षीण, क्षत अथवा दुर्बल पुरुष अम्ल रस का अधिक सेवन करते हैं तो उनको शोष हो जाता है और भी क्षत (कटना), अभिहत (चोट लगना), दष्ट (साँप, बिच्छू आदि से डसना), दग्ध (जलना), भग्न (टूटना), शून (सूजन होना), भ्रष्ट (कहीं से गिर जाना अथवा अस्थि-सन्धियों का अपने स्थान से खिसक जाना), अवमूत्रित (मकड़ी आदि विषैले जन्तुओं द्वारा शरीर पर मूत्र कर देना), परिसर्पित (विषैले कृमि, कीटों का शरीर पर चलना), मर्दित (शरीर से दब जाना, मसल जाना), छिन्न (दो...)

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

लवण रस के गुण-कर्म—

यह पाचन (भोजन को पचाता है, अतएव 'लवणभास्कर चूर्ण' आदि का प्रयोग पाचन के लिये किया जाता है।), विलेपन (गीला करने वाला या गलाने वाला होता है। अतएव अचार आदि में लवण की मात्रा अधिक डाली जाती है।), दीपन (पाचकाग्नि को दीप्त करता है।), च्यावन (च्युत करने वाला), छेदन (कफ को काटने वाला), भेदन (मल का भेदन करने वाला), तीक्ष्ण, सर, विकाशी, अधःस्रंसी (मल को नीचे की ओर प्रवृत्त करने वाला), अवकाशकारक, वातनाशक, शरीर का जकड़ जाना, मलबद्ध, दोषों का इकट्ठा होना—इनका नाशक, सर्वरसप्रत्यनीक (सभी रसों के बीच में अपना पराक्रम दिखलाने वाला; नमक के बिना सभी रस फीके पड़ जाते हैं।), मुख से लार चुआता है, कफ को निकालता है, रसवाही स्रोतों को शुद्ध करता है, शरीर के सभी अवयवों को मृदु बनाता है, आहार को रुचिपूर्ण कर देता है। प्रायः प्रत्येक आहारद्रव्यों में इसका उपयोग किया जाता है। यह अधिक गुरु नहीं होता, स्निग्ध तथा उष्ण होता है।

लवण रस के अधिक सेवन से दोष—

इस प्रकार के गुणों वाले केवल लवण रस का भी अधिक प्रयोग करने पर यह पित्त को प्रकुपित (दूषित) करता है, रक्त को बढ़ाता है, प्यास को बढ़ाता है, मूर्च्छित करता है, सन्तत करता (उष्णता को बढ़ाता) है, कफ को फाड़ता है, मांस को गलाता है, कुष्णाति (Draw out) कुष्ठों को गला देता है, विष को बढ़ाता है, फोड़ों को फाड़ देता है, दाँतों को गिरा देता है, पुरुषत्व को नष्ट करता है, इन्द्रियों की शक्ति को शिथिल करता है, शरीर में झुर्रियाँ, अकाल में बालों का पकना, खालित्य (शिर में गंजापन) कर देता है और भी रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त (Baldness) आदि विकारों को उत्पन्न करता है।

कटुरस के गुण-कर्म—

कटु रस (कटु को ही कटुक भी कहते हैं।) मुख को शुद्ध करता है, अग्नि को बढ़ाता है, खाये हुए पदार्थों के द्रव अंश को सुखाता है, नाक से कफ (मल) का स्राव कराता है, आँखों से जल (आँसू) निकालता है, ज्ञानेन्द्रियों को स्वच्छ कर देता है, अर्थात् कटुरस (त्रिकटु-सोंठ, मिरिच, पीपल या हरी, लाल मिर्च) का सेवन करने से मुख में स्थित कफविकार दूर होता है, आँख, मुख, नाक में से पानी और उसके साथ कफ का भी स्राव होने लगता है तथा इन्द्रियों में चेतनता आ जाती है। अलसक (गुम हैजा), श्वयथु (सूजन), उपचय (शारीरिक वृद्धि), उदर्द (शरीर पर धब्बे पड़ जाना), अभिष्यन्द, शारीरिक स्निग्धता, स्वेद, क्लेद आदि मलों का नाश करता है। भोजन को स्वादिष्ट बनाता है। खुजली का नाश करता है, व्रणों का अवसादन करता है (उठे हुए फोड़ों को बैठाता है। देखें-सु० चि० अ० 1) कृमियों को नष्ट करता है, मांस का लेखन कराता है, इकट्ठे रक्त को अलग-अलग कर देता है, सन्धिबन्धों को काट देता है, स्रोतों को विस्तृत कर देता है अर्थात् स्रोतों की रुकावट को दूर कर देता है, कफ का शमन करता है। यह लघु, उष्ण और रूक्ष होता है।

कटुरस के अधिक सेवन से दोष—

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

इस प्रकार के गुणों से युक्त यह कटुरस जब अकेला अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है, तो अपने विपाक के प्रभाव से पुरुषतत्व का नाश करता है, अपने रस (कटु) और वीर्य (उष्ण) के प्रभाव से मोह को उत्पन्न करता है, हर्षक्षय करता है, अवसाद उत्पन्न करता है, कृश करता है, मूर्च्छित करता है, शरीर को झुका देता है, आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है, चक्कर आने लगते हैं, गला में दाह उत्पन्न करता है, शरीर में गर्मी पैदा करता है, बल का नाश करता है, प्यास को पैदा करता है और भी वायु तथा अग्नि गुण की अधिकता से चक्कर, द्रथु (वमन), कम्प, तोद (सुई चुभाने की-सी वेदना), भेद (फटने की-सी पीड़ा) आदि से युक्त, चरण, बाँह, पसली, पीठ आदि स्थानों में वातविकारों को पैदा कर देता है।

तिक्तरस के गुण-कर्म—

तिक्तरस स्वयम् सेवन करते समय अरुचिकारक होने पर भी सेवन करने पर अरुचिनाशक, विषनाशक, कृमिनाशक, मूर्च्छा, दाह, कण्डू, कुष्ठ, तृष्णा का शमन करने वाला, त्वचा और मांस को स्थिर (पुष्ट) करने वाला, ज्वरनाशक, दीपन, पाचन, माता के दूध को शुद्ध करने वाला, लेखन, क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय (मवाद), स्वेद, मूत्र, पुरीष (Stool), पित्त और कफ को सुखाने वाला रूक्ष, शीत तथा लघु होता है।

तिक्तरस के अधिक सेवन से दोष—

इस प्रकार के गुणों से युक्त यह तिक्त रस जब अकेला अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है, तो रूक्षता के कारण खर और विशद स्वभाव के कारण रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र-धातुओं का शोषण करता है। स्रोतों में खरता पैदा करता है, बल को घटाता है, शरीर को कृश करता है, हर्षक्षय करता है, चित्त को मोहित कर देता है, चक्कर उत्पन्न करता है, मुख को सुखा देता है और भी वातविकारों को पैदा कर देता है।

कषायरस के गुण-कर्म—
कषायरस दोषों को शांत करने वाला, संग्राही, संधानकारक, पीड़न (दबाकर मवाद आदि को निकालने वाला), रोपण (घाव को भरने वाला), सुखाने वाला तथा स्तम्भक है। कफ, रक्त, पित्त का शमनकारक और शरीर के गीलेपन को सुखाने वाला, रूक्ष, शीत एवं गुरु होता है।

कषायरस के अधिक सेवन से दोष—
इस प्रकार के गुणों से युक्त यह कषायरस जब अकेला अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो मुख को सुखा देता है, हृदय को पीड़ित करता है, उदर को फुला देता है (पेट में आध्मान कर देता है।), आवाज को स्पष्ट निकलने नहीं देता (अधिक कषैले पदार्थ का सेवन करने से आवाज लड़खड़ा जाती है।), रसवाही स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है, शरीर में श्यामलता छा जाती है, पुरुषत्व का विनाश करता है, विष्टम्भ (कब्ज) को पैदा करके तदनन्तर पचता है, वात (अपान वायु), सूत्र, पुरीष, वीर्य को रोक देता है, शरीर की कृश तथा मलिन कर देता है, प्यास को उत्पन्न करता है, जड़ता या जकड़ाहट कर देता है। खर, विशद और रूक्ष होने के कारण पक्षाघात, ग्रह (हनुग्रह), अपतानक, अर्दित (मुख प्रदेश का लकवा) आदि वातविकारों को उत्पन्न करता है।

2.3 त्रिदोषसिद्धान्तः

त्रिदोषसिद्धान्त आयुर्वेद का मूल एवं आधारभूत सिद्धान्त है। इसके अनुसार शरीर की समस्त शारीरिक, मानसिक तथा जैविक क्रियाएँ तीन दोषों—वात, पित्त और कफ—द्वारा संचालित होती हैं। इनकी सम अवस्था स्वास्थ्य का तथा विषम अवस्था रोग का कारण होती है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

त्रिदोष की परिभाषा

दूषयन्ति इति दोषाः।

अर्थ: जो धातु एवं शरीर को दूषित (विकृत) करें, उन्हें दोष कहते हैं।

त्रिदोष के नाम

- वात – गति एवं संचार का नियामक।
- पित्त – पाचन, ऊष्मा एवं चयापचय का नियामक।
- कफ – स्थिरता, स्नेहन एवं पोषण का नियामक।

त्रिदोषों का कार्यात्मक महत्त्व

- वात – सभी गतियों, स्नायु-क्रियाओं, श्वास-प्रश्वास एवं उत्सर्जन का नियंत्रण।
- पित्त – पाचन, चयापचय, शरीर की ऊष्मा, वर्ण, बुद्धि एवं दृष्टि का नियंत्रण।
- कफ – शरीर की संरचना, स्नेहन, स्थिरता, बल एवं प्रतिरक्षा का संरक्षण।

त्रिदोष सिद्धान्त का मूल श्लोक

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः॥६॥

विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥

भावार्थ: वात, पित्त और कफ — संक्षेप में ये तीन दोष हैं। सम (अविकृत) अवस्था में ये शरीर का धारण एवं पालन करते हैं, जबकि विकृत होने पर ये ही शरीर का नाश करते हैं।

सारांश

- त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) शरीर के कार्यात्मक तत्त्व हैं, जो समस्त शारीरिक-मानसिक क्रियाओं को संचालित करते हैं।
- इनकी सम अवस्था स्वास्थ्य तथा विषम (विकृत) अवस्था रोग का कारण है।

त्रिदोषों के स्थान, भेद एवं कर्म

वातस्थानम्

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्।

स्थानं वातस्य, तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः॥

Study Material - Uploaded on 11-08-2026

पक्वाशय (बड़ी आंत), कटि (कमर), सक्थि (जांघ), श्रोत्र (कान), अस्थि (हड्डियाँ) तथा स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) — ये सभी वातदोष के प्रमुख स्थान हैं। इनमें भी पक्वाशय वात का मुख्य एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान माना गया है।

वात के पाँच भेद

- प्राणवायु
- उदानवायु
- व्यानवायु
- समानवायु
- अपानवायु

वातदोष के कर्म

स्रसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम्॥४९॥

सङ्गाङ्गभङ्गसङ्कोचवर्तहर्षणतर्षणम्।

कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पन्दनवेष्टनम्॥५०॥

स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा ।

कर्माणि वायोः ॥५१॥

वातदोष निम्नलिखित कार्य करता है—

- स्रंस – अंगों का ढीलापन या भ्रंश।
- व्यास – अंगों का फैलना या प्रसारण।
- व्यध – सुई चुभने जैसी पीड़ा।
- स्वाप – सुन्नपन।
- साद – दुर्बलता या शिथिलता।
- रुक् – सामान्य वेदना।
- तोद – चुभने वाला दर्द।
- भेदन – फटने या चीरने जैसा दर्द।
- सङ्ग – गति या मल-मूत्र आदि का अवरोध।
- अङ्गभङ्ग – शरीर टूटने जैसी पीड़ा।
- सङ्कोच – संकुचन या अकड़न।
- वर्त – अंगों का मरोड़ या मुड़ना।
- हर्षण – रोमांच (goosebumps)।
- तर्षण – अत्यधिक प्यास।
- कम्प – कंपन (Tremors)।
- पारुष्य – रूक्षता या खरापन।
- सौषिर्य – अस्थियों या ऊतकों में सुषिरता (छिद्रयुक्तता)।
- शोष – क्षय या सूखापन।
- स्पन्दन – फड़कना।

Study Material- Uploaded on 11.08.2026

- वेष्टन – ऐंठन या लिपटने जैसी पीड़ा।
- स्तम्भ – जकड़न या स्तब्धता।
- कषायरसता – मुख में कषाय (कसैला) स्वाद।
- श्याव अथवा अरुण वर्ण – त्वचा का काला-नीलापन या लालाभ वर्ण।

पित्तस्थानम्

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।

दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य, नाभिरत्र विशेषतः ॥२॥

पित्तदोष के स्थान हैं—

- नाभि (नाभि प्रदेश), आमाशय (विशेषकर ग्रहणी एवं जठर का पाचक भाग), स्वेद (पसीना), लसीका, रुधिर (रक्त), रस (रसधातु), दृक् (नेत्र, विशेषतः दृष्टि), स्पर्शन (त्वचा में उष्णता का अनुभव)। इन सभी में नाभि पित्त का प्रमुख (विशेष) स्थान मानी गई है।

पित्त के पाँच भेद

- पाचक पित्त
- रञ्जक पित्त
- साधक पित्त
- आलोचक पित्त
- भ्राजक पित्त

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

पित्तदोष के कर्म

पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ॥५१॥

स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः।

कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः ॥५२॥

पित्तदोष के प्रमुख कार्य एवं प्रभाव निम्नलिखित हैं —

- दाह – जलन उत्पन्न करना।
- राग – लालिमा उत्पन्न करना।
- उष्मा – शरीर में ताप एवं ऊष्णता बनाए रखना।
- पाकिता – भोजन एवं धातुओं का पाचन एवं परिपाक करना।
- स्वेद – पसीना उत्पन्न करना।
- क्लेद – शरीर में आवश्यक आर्द्रता बनाए रखना।

- स्रुति – द्रवों का स्राव (स्रवण) कराना।
- कोथ – शोथ, फफोले या ऊतक-पाक उत्पन्न करना।
- सदन – शरीर में शिथिलता या कमजोरी उत्पन्न करना।
- मूर्च्छा – चेतना का लोप (बेहोशी) कराना।
- मद – मादकता अथवा भ्रम उत्पन्न करना।
- कटु एवं अम्ल रस – कटु तथा अम्ल रसों की प्रधानता।
- वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः – पित्त का वर्ण न तो श्वेत (पाण्डु) होता है और न ही अरुण; इसका सामान्य वर्ण पीत, हरित या नीलाभ-पीत माना गया है।

कफस्थानम्

उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः |

मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य, सुत्रामुरः ||

कफदोष के स्थान

उरः (वक्षस्थल/छाती), कण्ठ (गला), शिरः (सिर), क्लोम, पर्व (सन्धियाँ), आमाशय (पेट का ऊपरी भाग/जठर), रसधातु, मेदधातु, घ्राण (नाक), जिह्वा (जीभ), इनमें उरः (छाती) कफ का प्रधान (मुख्य) स्थान माना गया है ।

कफ के पाँच भेद

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

- अवलम्बक कफ
- क्लेदक कफ
- बोधक कफ
- तर्पक कफ
- श्लेषक कफ

कफदोष के कर्म

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम्।

बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः॥५३॥

वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता॥५४॥

कफ के कार्य एवं लक्षण निम्नलिखित हैं—

- स्नेह – शरीर में स्निग्धता एवं चिकनापन बनाए रखना।
- काठिन्य – शरीर के अंगों को दृढ़ता प्रदान करना।
- कण्डू – खुजली उत्पन्न करना (वृद्ध कफ की अवस्था में)।
- शीतत्व – शीतलता प्रदान करना।
- गौरव – शरीर में भारीपन उत्पन्न करना।

- बन्ध – ऊतकों एवं सन्धियों को बाँधकर स्थिर रखना।
- उपलेप – अंगों पर लेप या चिकनाई बनाए रखना।
- स्तैमित्य – स्थिरता, जड़ता एवं आलस्य उत्पन्न करना।
- शोफ – सूजन उत्पन्न करना।
- अपक्ति – पाचन शक्ति को मंद करना।
- अतिनिद्रता – अधिक नींद आना।
- श्वेत वर्ण – श्वेत या धवल वर्ण की प्रवृत्ति।
- स्वादु एवं लवण रस – मधुर और लवण रस से कफ की वृद्धि होती है।
- चिरकारिता – कार्यों का धीरे-धीरे होना, विलम्ब से क्रिया करना।

2.4 शरीर के मूल तत्व: सप्तधातु, मल एवं अग्नि

1. सप्तधातवः (सात धातुएँ)

आयुर्वेद में धातु वे मूल तत्व हैं जो शरीर का निर्माण, पोषण तथा धारण करते हैं। "धारणात् धातवः" अर्थात् जो शरीर को धारण करें, वे धातु कहलाते हैं।

सप्त धातुओं के नाम:

1. रस – भोजन के पाचन के बाद बनने वाला प्रथम पोषक द्रव्य, जो सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

2. रक्त – शरीर को प्राणवायु पहुँचाता है तथा वर्ण (रंग) प्रदान करता है।
3. मांस – शरीर को आकार, बल तथा मांसपेशियाँ प्रदान करता है।
4. मेद – शरीर में स्निग्धता, ऊर्जा का संचय तथा अंगों की रक्षा करता है।
5. अस्थि – शरीर को दृढ़ता तथा आधार प्रदान करती है।
6. मज्जा – अस्थियों को भरती है तथा शरीर को बल एवं स्निग्धता देती है।
7. शुक्र (पुरुष) – प्रजनन, ओज एवं जीवन-शक्ति से सम्बन्धित धातु।

महत्त्व:

सभी धातुएँ क्रमशः एक-दूसरे का पोषण करती हैं (धातु-पोषण क्रम)। किसी भी धातु की कमी (क्षय) या वृद्धि (वृद्धि) से रोग उत्पन्न हो सकते हैं। ये सभी धातुएँ दोषों द्वारा दूषित होने के कारण "दूष्य" भी कहलाती हैं।

2. मलाः (शरीर के अपशिष्ट पदार्थ)

मल वे पदार्थ हैं जो शरीर की चयापचय (Metabolism) क्रिया के पश्चात् अपशिष्ट रूप में बाहर निकलते हैं। इनका उचित निष्कासन स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

मुख्य तीन मल (त्रिमल):

1.पुरीष (मल) – पाचन के बाद बचा ठोस अपशिष्ट।

2.मूत्र – शरीर का द्रव अपशिष्ट, जो जल एवं अवांछित पदार्थों को बाहर निकालता है।

3.स्वेद (पसीना) – शरीर का तापमान नियंत्रित करता है तथा जल एवं लवणों का निष्कासन करता है।

महत्त्व:

मलों का नियमित निष्कासन शरीर को स्वस्थ रखता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक धातु का भी अपना पृथक् मल होता है (जैसे रक्त का मल पित्त माना गया है)। मलों के रुकने (सञ्चय) या अत्यधिक बनने से रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

3. अग्नि: (पाचन एवं चयापचय शक्ति)

आयुर्वेद में अग्नि वह शक्ति है जो भोजन का पाचन, अवशोषण तथा उसे शरीर के लिए उपयोगी तत्वों में परिवर्तित करती है। अग्नि को स्वास्थ्य का आधार माना गया है — "शान्तेऽग्नौ म्रियते" (अग्नि के शान्त/समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है)।

अग्नि की कुल संख्या — त्रयोदश (13)

अग्नि के कुल 13 भेद माने गए हैं, जो निम्न तीन वर्गों में विभाजित हैं:

वर्ग	संख्या	नाम
जठराग्नि	1	जठराग्नि (प्रधान अग्नि, आमाशयस्थ)
पंच भूताग्नि	5	भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि, आकाशाग्नि
सप्त धात्वाग्नि	7	रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि, शुक्राग्नि
कुल योग	**13**	**1 + 5 + 7 = 13**

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

(क) जठराग्नि (1)

- सम्पूर्ण शरीर की मुख्य एवं प्रधान अग्नि, आमाशय-स्थित।
- शेष सभी 12 अग्नियाँ इसी पर आश्रित रहती हैं।
- यही आहार का प्राथमिक पाचन कर 'आहार रस' का निर्माण करती है।

(ख) पंच भूताग्नि (5)

पंचमहाभूतों (आहार में निहित) का पृथक्-पृथक् पाचन करने वाली अग्नियाँ:

1.भौमाग्नि (पार्थिव)

2.आप्याग्नि (जलीय)

3.आग्नेयाग्नि (तैजस)

4.वायव्याग्नि (वायवीय)

5.आकाशाग्नि (नाभसीय)

(ग) सप्त धात्वाग्नि (7)

प्रत्येक धातु में स्थित पोषण एवं परिवर्तनकारी अग्नि — प्रत्येक धातु को अगली धातु में रूपान्तरित करती है:

1.रसाग्नि

2.रक्ताग्नि

3.मांसाग्नि

4.मेदाग्नि

5.अस्थ्यग्नि

6.मज्जाग्नि

7.शुक्राग्नि

अग्नि की चार अवस्थाएँ:

- सम अग्नि = उत्तम स्वास्थ्य
- मन्द अग्नि = अपचन एवं रोग
- तीक्ष्ण अग्नि = अत्यधिक पाचन
- विषम अग्नि = अनियमित पाचन

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

सारांश (संशोधित)

- सप्तधातु शरीर का निर्माण एवं पोषण करती हैं — रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र।
- त्रिमल (पुरीष, मूत्र, स्वेद) शरीर के अपशिष्ट पदार्थ हैं, जिनका उचित निष्कासन आवश्यक है।
- अग्नि के कुल 13 भेद हैं (1 जठराग्नि + 5 भूताग्नि + 7 धात्वाग्नि), जो भोजन को पचाकर धातुओं का पोषण करते हैं और स्वास्थ्य का मूल आधार हैं।

Section – III

3. स्वास्थ्यं जीवनशैली रोगः उपचारश्च (प्रारम्भिकपरिचयः)

3.1. स्वास्थ्य की परिभाषा

सुश्रुत संहिता के अनुसार—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

जिस व्यक्ति के वात, पित्त और कफ (दोष) संतुलित हों, अग्नि (पाचन शक्ति) ठीक हो, सातों धातुएँ तथा मल (मल, मूत्र और स्वेद) की क्रियाएँ सामान्य हों, और जिसका शरीर (यहा आत्म शब्द का अर्थ शरीर है), इन्द्रियाँ तथा मन विकृतरहित हों, वही स्वस्थ कहलाता है।

आयुर्वेद केवल शारीरिक स्वस्थता का नही परंतु मानसिक, सामाजिक स्वास्थ्य का भी विचार करता है।

चरकाचार्य कहते है - *सुखसंज्ञकम् आरोग्यम्*।

आरोग्य यही परम सुख है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थो की प्राप्ति करने के लिये आरोग्य का उत्तम होना अत्यावश्यक है। अगर आरोग्य होगा तो ही पुरुषार्थो की प्राप्ति हो सकती है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

धर्मार्थिकाममोक्षाणाम् आरोग्यं मूलमुत्तमम्। (वाग्भट)

3.2 दिनचर्या ऋतुचर्या

परिभाषा:
आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ रहने और रोगों से बचने के लिए प्रतिदिन किए जाने वाले नियमों और कार्यों को दिनचर्या कहते हैं।

दिनचर्या के मुख्य अंग
1) ब्रह्ममुहूर्त मे जागना – सूर्योदय से लगभग 1.5 घंटे पहले उठना।
2) मल-मूत्र त्याग – समय पर शौच एवं मूत्र त्याग करना।
3) दन्तधावन – दाँत साफ करना।
4) जिह्वा-निर्लेखन – जीभ साफ करना।
5) गण्डूष एवं कवल – मुख में औषधीय द्रव्य धारण या कुल्ला करना।
6) अंजन – आँखों में अंजन लगाना।
7) नस्य – नाक में औषधीय तेल या घृत की बूँदें डालना।
8) अभ्यंग – शरीर पर तेल की मालिश करना।

9) व्यायाम – अपनी क्षमता के अनुसार व्यायाम करना।
10) उद्वर्तन – औषधीय चूर्ण से शरीर की मालिश करना।
11) स्नान – स्वच्छ जल से स्नान करना।
12) स्वच्छ वस्त्र धारण करना।
13) संतुलित एवं हितकर भोजन करना।
14) रात्रि में समय पर सोना।
15 सद्वृत्त का पालन करना ।

दिनचर्या का महत्व
स्वास्थ्य की रक्षा करती है।
रोगों की रोकथाम करती है।
पाचन शक्ति बढ़ाती है।
शरीर में स्फूर्ति और बल बनाए रखती है।
आयु बढ़ाने में सहायक होती है।

ऋतुचर्या

परिचय
आयुर्वेद के अनुसार प्रकृति में होने वाले ऋतु (मौसम) परिवर्तन का प्रभाव मानव शरीर पर भी पड़ता है। प्रत्येक ऋतु में वात, पित्त और कफ दोषों की अवस्था बदलती रहती है। यदि व्यक्ति ऋतु के अनुसार अपने आहार (भोजन), विहार (दिनचर्या), वस्त्र, व्यायाम और जीवनशैली में उचित परिवर्तन करता है, तो वह स्वस्थ रहता है और ऋतुजन्य रोगों से बचा रहता है। इसी नियम को ऋतुचर्या कहते हैं।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

परिभाषा
"ऋतु के अनुसार आहार, विहार एवं जीवनशैली में उचित परिवर्तन करना ही ऋतुचर्या कहलाता है।"

आयुर्वेद में छह ऋतुएँ
हेमन्त (मार्गशीर्ष–पौष)
शिशिर (माघ–फाल्गुन)
वसन्त (चैत्र–वैशाख)
ग्रीष्म (ज्येष्ठ–आषाढ़)
वर्षा (श्रावण–भाद्रपद)
शरद (आश्विन–कार्तिक)

ऋतुचर्या की आवश्यकता
प्रत्येक ऋतु में तापमान, आर्द्रता और वातावरण बदलता है।
इन परिवर्तनों से शरीर की अग्नि (पाचन शक्ति) तथा दोषों पर प्रभाव पड़ता है।

यदि भोजन और दिनचर्या ऋतु के अनुसार न हो, तो रोग उत्पन्न हो सकते हैं।
इसलिए ऋतुचर्या का पालन आवश्यक है।

ऋतुचर्या के मुख्य सिद्धांत
-ऋतु के अनुसार उचित भोजन करना।
-मौसम के अनुसार वस्त्र पहनना।
-व्यायाम की मात्रा ऋतु के अनुसार बदलना।
-पर्याप्त नींद और स्वच्छ दिनचर्या अपनाना।
-दोषों को संतुलित रखने वाले आहार-विहार का पालन करना।

ऋतुचर्या के लाभ
-स्वास्थ्य की रक्षा होती है।
-रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।
-वात, पित्त और कफ संतुलित रहते हैं।
-पाचन शक्ति अच्छी रहती है।
-ऋतुजन्य रोगों की रोकथाम होती है।
-शरीर में बल, ऊर्जा और उत्साह बना रहता है।
-दीर्घायु एवं उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

3.3 आहारस्य मूलसिद्धान्ता:

चरक संहिता आदि ग्रंथो मे आहार के मूलसिद्धांत वर्णन किये है। उनमे
आहारविधिविधान
अष्टौ आहारविधिविशेषायतन
आहारपरिणामकर भाव

इनका विचार करना चाहिये

1) **अष्टौ आहारविधि विशेषायतनानि** (आहार के आठ विशेष निर्धारक) निम्नलिखित हैं:

1-प्रकृति – आहार का स्वाभाविक गुण
किसी खाद्य पदार्थ का प्राकृतिक स्वभाव।
उदाहरण: मूंग दाल लघु (हल्की) होती है, जबकि उड़द दाल गुरु (भारी) होती है।

2-करण – आहार का संस्कार या प्रसंस्करण
भोजन को पकाने, भूनने, मथने, किण्वित (Fermentation) करने आदि से उसके गुणों में परिवर्तन होता है।
उदाहरण: कच्चे चावल की अपेक्षा पके हुए चावल अधिक सुपाच्य होते हैं।

3-संयोग – दो या अधिक पदार्थों का संयोजन
विभिन्न खाद्य पदार्थों को मिलाने से नए गुण उत्पन्न हो सकते हैं।
उदाहरण: दूध और घी का संयोजन हितकर माना जाता है, जबकि दूध और मछली का संयोग विरुद्धाहार माना गया है।

4-राशि – आहार की मात्रा
भोजन उचित मात्रा में करना चाहिए। राशि दो प्रकार की मानी गई है—
सर्वग्रह – भोजन की कुल मात्रा।
परिग्रह – प्रत्येक खाद्य पदार्थ की अलग-अलग मात्रा।

5-देश – स्थान
जिस स्थान पर व्यक्ति रहता है तथा जहाँ भोजन उत्पन्न होता है, उसके अनुसार आहार का चयन करना चाहिए।
उदाहरण: शुष्क प्रदेश और आर्द्र प्रदेश के लोगों की आहार आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं।

6-काल–समय
ऋतु, आयु तथा भोजन करने के समय के अनुसार आहार लेना चाहिए।
उदाहरण: शीत ऋतु में पौष्टिक एवं स्निग्ध आहार तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल एवं हल्का आहार उचित है।

7-उपयोगसंस्था– भोजन करने की विधि
Study Material - Uploaded on 11.08.2026
भोजन सही नियमों के अनुसार करना चाहिए।
जैसे—भोजन गरम, ताज़ा, उचित मात्रा में, शांत मन से तथा पूर्व भोजन के पचने के बाद करना।

8-उपयोक्ता– भोजन करने वाला व्यक्ति
भोजन का चयन व्यक्ति की प्रकृति, अग्नि (पाचन शक्ति), आयु, स्वास्थ्य, सात्म्य एवं शारीरिक अवस्था के अनुसार होना चाहिए।
उदाहरण: मंदाग्नि वाले व्यक्ति को हल्का एवं सुपाच्य भोजन देना चाहिए।

2) आहार विधि विधान

1-उष्णम् अश्नीयात् – गर्म एवं ताज़ा भोजन करना चाहिए।
लाभ: भोजन स्वादिष्ट लगता है, शीघ्र पचता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, वात का अनुलोमन करता है तथा कफ का शमन करता है।

2-स्निग्धम् अश्नीयात् – स्निग्ध (घृत/तैल युक्त) भोजन करना चाहिए।
लाभ: अग्नि को बल देता है, पाचन में सहायता करता है, शरीर का पोषण करता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है, बल एवं वर्ण की वृद्धि करता है।
3-मात्रावत् अश्नीयात् – उचित मात्रा में भोजन करना चाहिए।
लाभ: भोजन सुगमता से पचता है, धातुओं का पोषण करता है तथा वात, पित्त और कफ को संतुलित रखता है।

4-जीर्णे अश्नीयात् – पूर्व भोजन के पूर्ण पच जाने पर ही पुनः भोजन करना चाहिए।
लाभ: अग्नि सुरक्षित रहती है, आम की उत्पत्ति नहीं होती तथा शरीर का पोषण ठीक प्रकार से होता है।

5-वीर्याविरुद्धम् अश्नीयात् – विरुद्ध आहार का सेवन नहीं करना चाहिए।
लाभ: दोषों की विकृति एवं अनेक रोगों से रक्षा होती है।

6-इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणैः अश्नीयात् – स्वच्छ, शांत एवं मनोनुकूल स्थान पर उचित पात्रों के साथ भोजन करना चाहिए।
लाभ: प्रसन्न मन से भोजन करने पर पाचन एवं स्वास्थ्य बेहतर रहता है।

7-नातिद्रुतम् अश्नीयात् – बहुत तेजी से भोजन नहीं करना चाहिए।
हानि: भोजन का स्वाद नहीं मिलता, ठीक से चबाया नहीं जाता, गलत मार्ग में जाने का भय रहता है तथा पाचन प्रभावित होता है।

8-नातिविलम्बितम् अश्नीयात् – बहुत धीरे-धीरे भी भोजन नहीं करना चाहिए।
हानि: भोजन ठंडा हो जाता है, अधिक मात्रा में खाया जा सकता है तथा पाचन बाधित होता है।

9-अजल्पन् अहसन् तन्मना भुञ्जीत – भोजन करते समय बातें न करें, न हँसें तथा मन को भोजन पर ही एकाग्र रखें।
लाभ: भोजन का सम्यक् सेवन एवं पाचन होता है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

10-आत्मानम् अभिसमीक्ष्य भुञ्जीत – अपनी प्रकृति, अग्नि, सात्म्य, आयु एवं स्वास्थ्य के अनुसार भोजन करना चाहिए।
लाभ: व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप भोजन होने से स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

३) **आहार परिणामकर भाव**

1. उष्मा (पाचक पित्त/अग्नि)-
आहार का पाचन (परिणमन) करती है तथा रसादि धातुओं के निर्माण में सहायक होती है।
2. वायु (विशेषतः समान वायु)-
आहार को चलाती, मिश्रित करती तथा उचित स्थान पर पहुँचाकर पाचन क्रिया का संचालन करती है।
3. क्लेद (कफ/जलांश)-
आहार को आर्द्र एवं मृदु बनाता है, जिससे पाचन सुगमता से होता है।
4. स्नेह-आहार को स्निग्ध एवं कोमल बनाकर वात का शमन करता है तथा पाचन एवं धातुपोषण में सहायता करता है।
5. काल-आहार के पूर्ण पाचन हेतु आवश्यक समय प्रदान करता है; समय मिलने पर ही सम्यक् पाचन होता है।
6. समयोग-उष्मा, वायु, क्लेद, स्नेह एवं काल का उचित समन्वय कर आहार का सम्यक् परिणाम (रसादि धातुओं में परिवर्तन) कराता है।

Section – IV

4. रोगः उपचारश्च (प्रारम्भिकपरिचयः)

4.1 रोगस्य संकल्पना

आयुर्वेद में विकार की संकल्पना बहुत विस्तार से है।

रोग पर्याय - रोग, विकार, पाप, ज्वर, व्याधि, दुःख, आमय, आतंक इत्यादि।

परिभाषा –
1 विकारो धातुवैषम्यम् – च.सू
धातु शब्द का यहाँ अर्थ शरीर के प्राकृतिक घटक हैं।
शरीर के किसी भी प्राकृतिक घटक में किसी भी प्रकार की विकृति आना यह विकार है।

2 रोगस्तु दोषवैषम्यम् । वाग्भट
शरीर के प्रत्येक घटकों में दोष, धातु, मल और उपधातु यह प्रयुक्त होते हैं, परंतु उन सभी में व्याधि होते समय सबसे पहले विकृति दोषों में होती है, और दोष विकृति के कारण बाकी अन्य धातुओं की भी विकृति होती है।

3 दोषदूष्यसम्मूर्छनाजनितो व्याधिः । माधवनिदान
Study Material - Uploaded on 11.08.2026
किसी भी कारण से विकृत हुए दोष शरीर में किसी स्थान पर रुक जाते हैं, और वहाँ के अन्य धातु, उपधातु, मल इत्यादि को दुष्ट करना प्रारंभ करते हैं। उसी समय व्याधि की उत्पत्ति होती है।

रोग दो प्रकार के होते हैं – निज और आगंतुक
निज व्याधि – शरीर में विकृति होकर दोष-दुष्य विकृति होकर व्याधि उत्पन्न करते हैं, उन्हें निज व्याधि कहते हैं।
आगंतुक व्याधि – शरीर के बाहर से किसी कारण से शरीर पर आघात के परिणाम से शरीर में विकृति उत्पन्न होना यह आगंतुक व्याधि होता है।

4.2 निवारणात्मकः चिकित्सात्मकः च उपागमः
(आयुर्वेद के निवारणात्मक एवं चिकित्सात्मक उपागम)

आयुर्वेद में चिकित्सा के दो प्रमुख उपागम हैं— निवारणात्मक (Preventive Approach) तथा चिकित्सात्मक (Curative Approach)।

1. निवारणात्मक उपागम
निवारणात्मक उपागम का अर्थ है—रोग उत्पन्न होने से पहले ही उसके कारणों को दूर करके स्वास्थ्य की रक्षा करना। आयुर्वेद का यह पक्ष आधुनिक Preventive Medicine के समान है, परन्तु उससे अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार के स्वास्थ्य का ध्यान रखा गया है।

निवारणात्मक उपागम के प्रमुख सिद्धान्त

(1) दिनचर्या
प्रतिदिन प्रातःकाल जागना, दन्तधावन, जिह्वा-निर्लेखन, अभ्यंग, व्यायाम, स्नान, उचित भोजन एवं समय पर निद्रा लेना आदि दिनचर्या के अंग हैं। इनके पालन से शरीर स्वस्थ रहता है तथा अनेक रोगों की संभावना कम हो जाती है।

(2) ऋतुचर्या
प्रत्येक ऋतु के अनुसार आहार-विहार में परिवर्तन करना आवश्यक है। ऋतु के अनुसार उचित जीवनशैली अपनाने से दोषों का संतुलन बना रहता है तथा ऋतुजन्य रोगों की रोकथाम होती है।

(3) सद्वृत्त
सत्य बोलना, क्रोध पर नियंत्रण रखना, स्वच्छता बनाए रखना, संयमित जीवन जीना तथा समाज के प्रति सद्भाव रखना सद्वृत्त के अंग हैं। इससे मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है।

(4) आचार रसायन
आचार रसायन में सदाचार, गुरुजनों का सम्मान, अहिंसा, दया, क्षमा, मधुर वाणी तथा सकारात्मक सोच का विशेष महत्व है। इससे मन स्वस्थ रहता है तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

(5) आहार-विहार
Study Material - Uploaded on 11.08.2026
आयुर्वेद में उचित आहार को ही सर्वोत्तम औषधि माना गया है। संतुलित, ताजा एवं सुपाच्य भोजन तथा नियमित जीवनशैली स्वास्थ्य संरक्षण का आधार है।

(6) वेगों का संरक्षण
प्राकृतिक वेगों (मूत्र, मल, छींक, जम्हाई आदि) को नहीं रोकना तथा मानसिक वेगों (क्रोध, लोभ, ईर्ष्या) पर नियंत्रण रखना आवश्यक है।

(7) रसायन एवं वाजीकरण
रसायन चिकित्सा शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाती है, आयु में वृद्धि करती है तथा धातुओं को पुष्ट करती है।

2. चिकित्सात्मक उपागम
जब किसी कारण से रोग उत्पन्न हो जाता है तब उसके निदान एवं उपचार के लिए चिकित्सात्मक उपागम अपनाया जाता है। आयुर्वेद में रोग के मूल कारण को दूर करके शरीर में दोष, धातु एवं मल की समता स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

चिकित्सात्मक उपागम के प्रमुख सिद्धान्त
(1) निदान परिहार
जिस कारण से रोग उत्पन्न हुआ है, सबसे पहले उस कारण का त्याग करना आवश्यक है। इसे आयुर्वेद में चिकित्सा का प्रथम चरण माना गया है।

(2) शमन चिकित्सा

जब दोषों की वृद्धि कम होती है तब औषधि, आहार एवं जीवनशैली द्वारा दोषों को शांत किया जाता है। इसे शमन चिकित्सा कहते हैं।

(3) शोधन चिकित्सा

जब दोष अत्यधिक बढ़ जाते हैं तब पंचकर्म के माध्यम से उन्हें शरीर से बाहर निकालकर शुद्ध किया जाता है। पंचकर्म के प्रमुख प्रकार हैं—

- वमन
- विरेचन
- बस्ति
- नस्य
- रक्तमोक्षण

(4) औषध चिकित्सा

वनौषधियों, खनिज एवं अन्य आयुर्वेदिक औषधियों का प्रयोग रोग के अनुसार किया जाता है। औषधि का चयन रोग, रोगी, प्रकृति, आयु एवं दोषों की स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता है।

(5) पथ्य-अपथ्य

चिकित्सा के साथ उचित आहार-विहार का पालन अत्यंत आवश्यक है। पथ्य का पालन करने से औषधि का प्रभाव बढ़ता है तथा रोग शीघ्र समाप्त होता है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

(6) सत्त्वावजय चिकित्सा

मानसिक रोगों में मन का नियंत्रण, सकारात्मक विचार, ध्यान, योग तथा आत्मविश्वास के माध्यम से उपचार किया जाता है।

(7) दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

मंत्र, जप, हवन, दान, उपासना आदि आध्यात्मिक उपायों का वर्णन भी आयुर्वेद में विशेष परिस्थितियों में किया गया है।

आयुर्वेद का निवारणात्मक एवं चिकित्सात्मक उपागम आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना प्राचीन काल में था। वर्तमान समय में बढ़ती जीवनशैली संबंधी बीमारियों, मानसिक तनाव तथा पर्यावरणीय समस्याओं के कारण आयुर्वेद के निवारणात्मक सिद्धान्तों का महत्व और अधिक बढ़ गया है। स्वस्थ जीवन के लिए दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त एवं संतुलित आहार का पालन आवश्यक है, जबकि रोग होने पर शोधन, शमन, औषधि तथा पथ्य के माध्यम से समग्र उपचार प्राप्त किया जा सकता है। यही आयुर्वेद की विशेषता है कि यह स्वास्थ्य संरक्षण और रोग उपचार दोनों का संतुलित एवं वैज्ञानिक मार्ग प्रस्तुत करता है।

4.3 औषध द्रव्यों का सामान्य परिचय

औषध द्रव्य वे पदार्थ हैं जिनका उपयोग रोगों की रोकथाम, रोगों के उपचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए किया जाता है। आयुर्वेद में औषध द्रव्य चिकित्सा का मुख्य आधार माने गए हैं।

आयुर्वेद के अनुसार औषध द्रव्य मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—

वनस्पति (स्थावर) द्रव्य – जो पेड़-पौधों से प्राप्त होते हैं, जैसे– हल्दी, नीम, आँवला।

जांगम द्रव्य – जो पशु-पक्षियों या अन्य जीवों से प्राप्त होते हैं, जैसे– शहद, दूध, घी।

खनिज (पार्थिव) द्रव्य – जो धातुओं एवं खनिजों से प्राप्त होते हैं, जैसे– स्वर्ण, रजत, ताम्र, गंधक।

प्रत्येक औषध द्रव्य के पाँच मुख्य गुण माने गए हैं—
रस (स्वाद)
गुण (विशेषताएँ)
वीर्य (उष्ण या शीत प्रभाव)
विपाक (पाचन के बाद का प्रभाव)
प्रभाव (विशेष कार्य)

इन गुणों के आधार पर औषधियाँ शरीर के दोष (वात, पित्त, कफ) को संतुलित करती हैं तथा रोगों को दूर करने में सहायता करती हैं।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

औषध द्रव्यों के मुख्य उद्देश्य—
स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना।
रोगी के रोगों का उपचार करना।
रोगों की रोकथाम करना।
शरीर के दोष, धातु और मल का संतुलन बनाए रखना।
आयु और बल की वृद्धि करना।

4.4 चिकित्सा-विधयः (पञ्चकर्मादीनां सामान्यज्ञानम्)

आयुर्वेद में चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी के रोग का निवारण है।

स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनं च।

अर्थ: स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा रोगी के रोगों का शमन करना ही आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य है।

चिकित्सा के प्रमुख प्रकार

- शोधन चिकित्सा (शरीर से दोषों का निष्कासन)
- शमन चिकित्सा (दोषों का संतुलन)

- निदानपरिवर्जन (रोग के कारणों का त्याग)

शोधन चिकित्सा (शरीर से दोषों का निष्कासन)

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिताः लङ्घनपाचनैः।

ये तु संशोधनैः शुद्धाः न तेषां पुनरुद्भवः॥

भावार्थ: केवल लंघन एवं पाचन से शांत किए गए दोष पुनः कुपित हो सकते हैं, किंतु शोधन (पञ्चकर्म) द्वारा निकाले गए दोष आसानी से पुनः उत्पन्न नहीं होते।

पञ्चकर्म

पञ्चकर्म आयुर्वेद की प्रमुख शोधन चिकित्सा है। इसका उद्देश्य शरीर में संचित दोषों को बाहर निकालकर शरीर को शुद्ध करना है।

पञ्चकर्म के पाँच कर्म

1. वमन

- कफ दोष का शोधन।
- औषधियों द्वारा चिकित्सकीय वमन कराया जाता है।
- **उपयोग:** कफजन्य रोग।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

2. विरेचन

- पित्त दोष का शोधन।
- औषधियों द्वारा नियंत्रित रेचन कराया जाता है।
- **उपयोग:** पित्त विकार, त्वचा रोग, यकृत रोग आदि।

3. बस्ति

- वात दोष की सर्वोत्तम चिकित्सा।
- औषधयुक्त द्रव गुदामार्ग से दिया जाता है।

प्रकार: निरूह (आस्थापन) बस्ति & अनुवासन बस्ति

- **उपयोग:** वातरोग, गठिया, कमरदर्द आदि।

4. नस्य

- नाक के माध्यम से औषधि का प्रयोग।
- **उपयोग:** सिर, नाक, कान, आँख एवं मस्तिष्क संबंधी रोग।

5. रक्तमोक्षण

- दूषित रक्त का निष्कासन।
- **उपयोग:** त्वचा रोग, सूजन, वातरक्त आदि।

पञ्चकर्म के तीन चरण

1. पूर्वकर्म

- दीपान
- पाचन
- स्नेहन
- स्वेदन

2. प्रधान कर्म

- वमन
- विरेचन
- बस्ति
- नस्य
- रक्तमोक्षण

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

3. पश्चात्कर्म

- संसर्जन क्रम
- आहार-विहार का पालन
- धीरे-धीरे सामान्य आहार की ओर लौटना

शमन चिकित्सा

जब दोषों को बाहर निकालना आवश्यक न हो, तब औषधि, आहार एवं जीवनशैली द्वारा दोषों को संतुलित किया जाता है।

उदाहरण:

- औषध सेवन
- पथ्य आहार
- योग एवं प्राणायाम

- दिनचर्या एवं ऋतुचर्या

पञ्चकर्म का महत्त्व

- दोषों का शोधन करता है।
- रोगों की पुनरावृत्ति की संभावना कम करता है।
- अग्नि एवं धातुओं को संतुलित करता है।
- शरीर एवं मन को शुद्ध करता है।
- रसायन चिकित्सा के लिए शरीर को तैयार करता है।

शमन चिकित्सा (विस्तृत विवरण)

परिभाषा

शमन चिकित्सा वह उपचार है जिसमें शरीर से दोषों को बाहर निकाले बिना, औषधि, आहार, विहार तथा जीवनशैली के माध्यम से कुपित दोषों को उनकी सामान्य अवस्था में लाया जाता है। यह मुख्यतः अल्पदोष, दुर्बल रोगी अथवा शोधन के लिए अनुपयुक्त रोगियों में की जाती है।

शमन चिकित्सा के उद्देश्य

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

- दोषों का संतुलन करना।
- रोग के लक्षणों को कम करना।
- अग्नि को प्रदीप्त करना।
- धातुओं का पोषण करना।
- रोग की पुनरावृत्ति को रोकना।

शमन चिकित्सा के प्रमुख उपाय

पाचन

- आम का पाचन करना।
- उदाहरण: नागरमोथा, चित्रक, पञ्चकोल।

दीपन

- जठराग्नि को प्रदीप्त करना।
- उदाहरण: पिप्पली, शुण्ठी, मरिच।

क्षुत् – उपवास / लंघन

- नियंत्रित उपवास द्वारा दोषों का शमन।
- विशेषतः आम एवं कफ विकारों में।

तृषा

- आवश्यकता अनुसार जल सेवन का संयम।
- चिकित्सकीय निर्देशानुसार किया जाता है।

व्यायाम

- शरीर को सक्रिय रखकर कफ एवं मेद का शमन।
- अग्नि और बल में वृद्धि।

आतप

- सूर्य के ताप का उचित उपयोग।
- शीत एवं कफजन्य विकारों में लाभकारी।

मारुत

- शुद्ध एवं स्वच्छ वायु का सेवन।
- शरीर और मन को स्फूर्ति प्रदान करता है तथा दोषों के शमन में सहायक है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

कब की जाती है?

- जब दोषों की मात्रा कम हो।
- रोगी दुर्बल, वृद्ध या बालक हो।
- शोधन चिकित्सा उपयुक्त न हो।
- रोग प्रारम्भिक अवस्था में हो।

लाभ

- दोषों का संतुलन होता है।
- रोग के लक्षणों में कमी आती है।
- अग्नि एवं पाचन में सुधार होता है।
- रोगी की शक्ति बनी रहती है।
- रोग की प्रगति को रोका जा सकता है।

निदान परिवर्जन

परिभाषा

निदान परिवर्जन का अर्थ है रोग उत्पन्न करने वाले कारणों (निदानों) का त्याग या उनसे बचाव करना। यह आयुर्वेद में रोग-निवारण और रोग-चिकित्सा का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत माना जाता है।

उदाहरण

- मधुमेह में अधिक मीठे पदार्थों का सेवन छोड़ना।
- मोटापे में अधिक तैलीय एवं जंक फूड का त्याग करना।
- अम्लपित्त में अत्यधिक तीखा, खट्टा और तला हुआ भोजन न करना।
- धूम्रपान, मद्यपान एवं अन्य हानिकारक आदतों का त्याग करना।
- अनियमित दिनचर्या, रात्रि जागरण और मानसिक तनाव से बचना।

महत्त्व

- रोग के मूल कारण को समाप्त करता है।
- रोग की वृद्धि को रोकता है।
- औषधियों की प्रभावशीलता बढ़ाता है।
- रोग की पुनरावृत्ति की संभावना कम करता है।
- स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोग-प्रतिरोध में सहायक होता है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

Section – V

5. आयुर्वेदस्य संरचना संस्थानानि च

5.1 अष्टांग आयुर्वेद

अष्टांग आयुर्वेद आयुर्वेद की मुख्य शाखाओं का समूह है। "अष्टांग" का अर्थ है आठ अंग या आठ प्रमुख शाखाएँ। ये शाखाएँ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा, रोगों की रोकथाम तथा रोगों के उपचार का कार्य करती हैं।

अष्टांग आयुर्वेद की आठ शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

1. कायचिकित्सा – शरीर मे उत्पन्न होनेवाले विभिन्न रोगों का निदान और चिकित्सा
2. शल्यतंत्र – जिन रोगों का उपचार शल्यक्रिया (operation) द्वारा किया जाता है।
3. शालाक्यतंत्र – आँख, कान, नाक, मुख तथा गले के रोगों की चिकित्सा।
4. कौमारभृत्य – बच्चों के रोगों, गर्भवती स्त्री, प्रसूता तथा नवजात शिशु की देखभाल और उपचार।
5. अगदतंत्र – विष (ज़हर) तथा विष से होने वाले रोगों की चिकित्सा।
6. भूतविद्या – भूत का अर्थ सूक्ष्म जन्तु। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो के कारण मनुष्य शरीर मे होनेवाले व्याधियों का निदान और चिकित्सा तथा मानसिक रोगों तथा मन से संबंधित विकारों का उपचार।
7. रसायनतंत्र – आयु बढ़ाने, बल, बुद्धि, रोग-प्रतिरोधक क्षमता तथा स्वास्थ्य को बनाए रखने की चिकित्सा।
8. वाजीकरणतंत्र – प्रजनन शक्ति बढ़ाने, शुक्रधातु को पुष्ट करने तथा स्वस्थ संतान प्राप्ति के उपाय।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

इस प्रकार, अष्टांग आयुर्वेद केवल रोगों के उपचार का विज्ञान नहीं है, बल्कि स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा, रोगों की रोकथाम, दीर्घायु प्राप्त करना तथा शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक कल्याण का समग्र विज्ञान है।

5.2 समग्र स्वास्थ्य प्रणाली के स्वरूप में आयुर्वेद

आयुर्वेद भारत की प्राचीन चिकित्सा पद्धति है, जिसका मुख्य उद्देश्य केवल रोगों का उपचार करना नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ बनाए रखना है। यही कारण है कि आयुर्वेद को समग्र स्वास्थ्य प्रणाली (Holistic Health System) कहा जाता है। आयुर्वेद मनुष्य को केवल शरीर नहीं मानता, बल्कि शरीर, मन, इन्द्रियाँ और आत्मा के समन्वित स्वरूप के रूप में देखता है।

समग्र स्वास्थ्य का अर्थ है—ऐसी अवस्था जिसमें व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, मन प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ संतुलित हों, सामाजिक संबंध अच्छे हों तथा आत्मिक शांति प्राप्त हो। केवल रोग का न होना ही स्वास्थ्य नहीं है, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संतुलन और सुख का होना ही वास्तविक स्वास्थ्य है।

आयुर्वेद में स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥"
अर्थात जिसके दोष, अग्नि, धातु और मल संतुलित हों तथा शरीर, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों, वही वास्तव में स्वस्थ कहलाता है।
आयुर्वेद की समग्र स्वास्थ्य संबंधी विशेषताएँ

1. स्वास्थ्य की रक्षा को प्राथमिकता

आयुर्वेद का पहला उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। इसलिए इसमें दैनिक जीवनचर्या (दिनचर्या), ऋतुचर्या, सद्वृत्त तथा उचित आहार-विहार का विशेष महत्व बताया गया है।

2. रोग की रोकथाम

आयुर्वेद रोग होने के बाद उपचार करने की अपेक्षा रोग उत्पन्न ही न हो, इस पर अधिक बल देता है। संतुलित भोजन, नियमित दिनचर्या, पर्याप्त नींद, व्यायाम तथा मानसिक शांति रोगों से बचाव के प्रमुख साधन हैं।

3. व्यक्तिगत चिकित्सा

आयुर्वेद प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति (वात, पित्त, कफ), आयु, ऋतु, देश तथा जीवनशैली के अनुसार चिकित्सा करता है। इसलिए एक ही रोग के दो व्यक्तियों का उपचार अलग-अलग हो सकता है।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

4. शरीर और मन का संबंध

आयुर्वेद के अनुसार शरीर और मन एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। चिंता, क्रोध, भय, ईर्ष्या और तनाव अनेक रोगों का कारण बन सकते हैं। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य को भी समान महत्व दिया गया है।

5. प्राकृतिक चिकित्सा

आयुर्वेद में औषधियों के साथ-साथ आहार, योग, प्राणायाम, ध्यान, पंचकर्म तथा रसायन चिकित्सा का उपयोग किया जाता है। इससे शरीर की प्राकृतिक रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

6. नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन

आयुर्वेद सदाचार, संयम, सत्य, करुणा, क्षमा तथा आत्मसंयम को स्वस्थ जीवन का आधार मानता है। आध्यात्मिक उन्नति भी समग्र स्वास्थ्य का महत्वपूर्ण अंग है।

समग्र स्वास्थ्य के प्रमुख आधार

- संतुलित एवं सात्त्विक आहार

- नियमित दिनचर्या
- ऋतु के अनुसार जीवनशैली
- पर्याप्त निद्रा
- व्यायाम एवं योग
- मानसिक संतुलन
- सदाचार एवं नैतिक जीवन
- स्वच्छता एवं पर्यावरण संरक्षण

आधुनिक समय में आयुर्वेद का महत्व

आज की भागदौड़, तनावपूर्ण जीवनशैली, अनियमित भोजन तथा प्रदूषण के कारण मधुमेह, उच्च रक्तचाप, मोटापा, मानसिक तनाव तथा हृदय रोग तेजी से बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद की समग्र स्वास्थ्य अवधारणा अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती है। आयुर्वेद केवल रोगों का उपचार ही नहीं करता, बल्कि स्वस्थ जीवन जीने की कला भी सिखाता है।

आयुर्वेद वास्तव में एक समग्र स्वास्थ्य प्रणाली है, जो शरीर, मन, इन्द्रियाँ और आत्मा के संतुलन पर आधारित है। इसका उद्देश्य केवल रोगों को दूर करना नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को दीर्घायु, निरोग, प्रसन्न एवं संतुलित जीवन प्रदान करना है। वर्तमान समय में स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए आयुर्वेद के सिद्धांतों को अपनाना अत्यंत आवश्यक है। यदि हम आयुर्वेद के अनुसार उचित आहार, दिनचर्या, योग, सदाचार तथा मानसिक संतुलन का पालन करें, तो हम न केवल रोगों से बच सकते हैं बल्कि एक सुखी, स्वस्थ और समृद्ध जीवन भी जी सकते हैं।

Study Material - Uploaded on 11.08.2026

5.3 Famous Ayurveda Institute of India

Sr. No	Institute/Organization	Location	Established Year
1	Government Ayurveda College	Thiruvananthapuram	1889
2	Banaras Hindu University – Faculty of Ayurveda	Varanasi	1922
3	Tilak Ayurved Mahavidyalaya	Pune	1933
4	Shri Ayurveda Mahavidyalaya	Nagpur	1951
5	Government Ayurved College	Nagpur	1965
6	Gujarat Ayurved University	Jamnagar	1967
7	National Institute of Panchakarma, Kerala	Cheruthuruthy	1971
8	National Institute of Ayurveda (NIA)	Jaipur	1976
9	Central Council for Research in Ayurvedic Sciences (CCRAS)	New Delhi	1978
10	Rashtriya Ayurveda Vidyapeeth (RAV)	New Delhi	1988
11	Dr. Sarvepalli Radhakrishnan Rajasthan Ayurved University	Jodhpur	2003
12	All India Institute of Ayurveda (AIIA)	New Delhi	2009
13	Ministry of AYUSH	New Delhi	2014

14	North Eastern Institute of Ayurveda and Homoeopathy (NEIAH)	Shillong	2016
15	Institute of Teaching and Research in Ayurveda (ITRA)	Jamnagar	2020
16	National Commission for Indian System of Medicine (NCISM)	New Delhi	2021

Study Material - Uploaded on 11.08.2026